

## दलितों द्वारा और अधिक सरकारी हस्तक्षेप की माँग Dalits Demand More State Intervention

गोपाल गुरु  
Gopal Guru  
8.18.09

भारत के दलित अपने जीवन-स्तर में सुधार के लिए अधिकाधिक सरकारी हस्तक्षेप की माँग करते रहे हैं। लेकिन इस माँग से अब तक उनका कोई भला नहीं हुआ है। यदि उत्तर संरचनावादी और आधुनिक उदारतावादी परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो आज के समकालीन युग में कई कारणों से सरकारी हस्तक्षेप से कोई लाभ नहीं होता। पहले का परिप्रेक्ष्य सरकार को किसी प्रकार की विश्वसनीयता प्रदान नहीं करता और दूसरे, यानी आधुनिक उदारतावादी सरकार की भूमिका को सीमित करने का प्रयास करता है। फिर भी इस परिप्रेक्ष्य में यह अपेक्षा ज़रूर रहती है कि सरकार बाहरी सुरक्षा का ख्याल रखे। इतना ही नहीं, वास्तव में तो इसके अंतर्गत कई कारणों से कल्याणकारी सरकार की तुलना में सैनिक सरकार को अधिक पसंद किया जाता है। इसका बुनियादी कारण यह है कि 'सामाजिक विकास' के लिए निजी स्तर पर संचय बहुत ज़रूरी है और पूर्व-आधुनिक काल में जीवभक्षी या पुश्तैनी सरकार के लिए यह असंभव ही माना जाता रहा है।

स्पैक्ट्रम के दूसरे छोर पर उत्तर संरचनावादी परिप्रेक्ष्य के अनुसार सरकार का हस्तक्षेप न केवल अवांछनीय है, बल्कि एक स्वतंत्र व्यक्ति के लिए गुलामी और दमन की ओर धकेलने वाला भी है। इसप्रकार उत्तर संरचनावादी परिप्रेक्ष्य के अनुसार सरकार समस्या है, समाधान नहीं। सवाल यह उठना चाहिए कि ऐसे कठिन दौर में आखिर दलितों को क्या करना चाहिए? उन्हें आधुनिक उदारतावादी की ओर बढ़ना चाहिए या उत्तर संरचनावादी की ओर ?

इस बारे में यह दिलचस्प बात है कि दलित आधुनिक उदारतावादी की दिशा में आगे बढ़ने के बजाय उत्तर संरचनावादी की ओर अधिक मुखरता से आगे बढ़ रहे हैं। लगता है कि वैश्वीकरण से दलितों के जीवन-स्तर में जो सुधार आया है, उसी के कारण ही दलित नई अर्थव्यवस्था का समर्थन करने लगे हैं और उन्हें लगता है कि इससे उनकी स्थिति में सुधार आ सकता है। इस समर्थन के अलावा भले ही अभी पूरा भरोसा न हो, संभवतः यह तो माना जा सकता है कि नई अर्थव्यवस्था में सरकारी क्षेत्र की तुलना में दलित अपने मालिकों (नियोक्ताओं) को चुनने या बदलने के लिए अधिक स्वतंत्र होंगे और

सबसे अच्छी बात तो यह होगी कि वे स्वयं अपने मालिक बनने का अवसर भी प्राप्त कर सकेंगे.

इस परिप्रेक्ष्य में यह बात दृढ़ता से कही जा सकती है कि सरकार यदि कल्याणकारी संस्था की अपनी भूमिका को छोड़ भी दे तो भी इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा. लेकिन दलित वर्ग में यह विचार अभी लोकप्रिय नहीं हो पाया है. वास्तव में भारत के अधिकांश दलित माँग करते हैं कि सरकारी हस्तक्षेप अधिक से अधिक बढ़ाया जाए. वे अपने कल्याण के संदर्भ में सरकार की भूमिका अधिक विश्वसनीय मानते हैं. दलित चाहते हैं कि न केवल सरकारी क्षेत्र में बल्कि गैर-सरकारी क्षेत्र में भी सरकार हस्तक्षेप करके उनके लिए अधिकाधिक रोज़गार के अवसर जुटाए. भारत में पिछले कुछ वर्षों से शिक्षित दलित वर्ग भी निजी क्षेत्र में आरक्षण की माँग करने लगा है. इन व्यक्तियों को अपने जीवन में हस्तक्षेप के लिए संस्थागत तंत्र की आवश्यकता है. साथ ही सरकारी लाभ पाने के लिए जातिगत प्रमाणपत्र के अधिक से अधिक सख्त नियम भी होने चाहिए. वास्तव में दलित वर्ग अपने जातिगत प्रमाणपत्र के आधार पर महाराष्ट्र के पेशेवर कॉलेजों में प्रवेश पाने के लिए संघर्ष कर रहा है और साथ ही स्वास्थ्य-सेवा, शिक्षा और आवास जैसे सामाजिक क्षेत्र का लाभ लेने के लिए सरकारी हस्तक्षेप की माँग भी कर रहा है. इसके अलावा दलित अपनी विश्वनीयता बढ़ाने के लिए भी सरकारी मदद की अपेक्षा करते हैं ताकि कर्ज़ के ज़रिए और दलितों के स्वयं सेवा समूहों के प्रवर्धन के ज़रिए उनकी विपणीयता में वृद्धि हो सके. इस बारे में यह भी दिलचस्प बात है कि दलित परिवारों को राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारंटी योजना (NREGS) का सबसे अधिक लाभ मिल रहा है. प्रेक्षकों के अनुसार यह योजना भी समस्याओं से मुक्त नहीं है.

आखिर दलित अधिकाधिक सरकारी हस्तक्षेप की माँग क्यों कर रहे हैं? क्या यह उचित है कि सरकार को लगातार बढ़ती हुई उनकी माँगों के बोझ तले और अधिक दबाया जाना चाहिए? दलितों का सरकार से क्या संबंध है? यह कहा जा सकता है कि सरकार भी एक इकाई है. इसका गठन भी असमानताओं को और अधिक बढ़ने से रोकने के लिए किया गया था. बर्नार्ड विलियम्स से संकेत लेते हुए यह कहा जा सकता था कि कार्यान्तर स्थिति में अधिकांश संसाधन कुछ सरकारी हाथों में नहीं, बल्कि निजी क्षेत्र में सिमट जाते हैं. पुनर्वितरण के लिए ज़रूरी है कि सरकार मुख्यतः सबसे अधिक धनी वर्ग के लोगों से इन संसाधनों को कराधान के ज़रिए जुटाए. इस स्पैक्ट्रम के सीमांत पर होने के कारण दलित इन संसाधनों के पुनर्विनियोग के लिए सरकार पर ही निर्भर रहते हैं ताकि दो अवस्थाओं के बीच के अंतराल को न्यूनतम किया जा सके : पूर्ण सीमांतीकरण से लेकर आपेक्षिक

वंचना तक. दो अवस्थाओं के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए दलितों को सरकार पर ही निर्भर रहना पड़ता है और अब उन्हें यह अधिकार भी मिल गया है कि वे किसी न किसी आधार पर ऐसी माँगें करते रहें. पहली बात तो यह है कि दलित लोग खाद्य के उत्पादन के लिए बहुत अधिक योगदान करते हैं, जिसे भारत सरकार लेवी के माध्यम से वसूल कर लेती है. दूसरी बात यह है कि विकास के बुनियादी ढाँचे को मज़बूत करने में भी दलित लोगों का बहुत बड़ा योगदान रहता है, जिससे सरकारी 'विकासवाद' को ठोस अर्थ देने में मदद मिलती है. तीसरी बात यह है कि जो दलित लोग सफ़ाई कर्मचारी हैं या खास तौर पर 'वाल्मीकि' हैं, वे अपने दम पर अकेले ही नागरिक समाज के स्वास्थ्य का खयाल करते हैं. हम यह नहीं सुझाना चाहते कि दलितों को हमेशा ही सफ़ाई कर्मचारी ही बने रहना चाहिए, लेकिन सरकार को ऐसे ठोस कदम उठाने चाहिए जिससे दलितों की स्थिति में क्रांतिकारी सुधार आ सके और वे सफ़ाई के काम के बजाय कुछ बेहतर काम भी कर सकें. उचित वितरण के लिए दलितों की माँग जायज़ है, क्योंकि वे ऐसे "मस्तीखोर" नहीं हैं जो केवल वितरण में ही अपना हिस्सा चाहते हों, उत्पादन में नहीं..

यद्यपि दलित अपने श्रम के द्वारा सरकार को एक अमूर्त इकाई से ठोस इकाई में रूपांतरित करते हैं, लेकिन सत्ता में आने के बाद सरकार में उन्हें एक सतह पर धकेल दिया जाता है. राज्य के संदर्भ में उनके हाव-भाव और अभिव्यक्ति दबाव (अधिकार की भाषा) के बजाय समर्पण (जी-हज़ूरी की भाषा) में बदल जाती है. आम दलित सरकार को चुनते हैं, लेकिन जैसे ही चुनाव पूरा होता है, उन्हें सतह पर धकेल दिया जाता है. वे सरकार में अपनी हिस्सेदारी का दावा नहीं कर पाते और सरकार की सम्पत्ति बनने के बजाय उसकी देनदारी बन जाते हैं. वे दान खाते पर पलने वाली मानसिकता के शिकार हो जाते हैं. यदि इसे दूसरे शब्दों में कहा जाए तो दलित दया के पात्र बन जाते हैं, क्योंकि वे सरकार से अधिकार की भाषा बोलकर मध्यस्थता करने के बजाय सरकार को वैसे ही माई-बाप मानने लगते हैं, जैसे कि परिवार के सदस्य अपने माँ-बाप को अपने भरण-पोषण के लिए ज़िम्मेदार मानते हैं. दलितों और सरकार के संबंध मात्र संरक्षण के बन गए हैं और ये संबंध इतने दमनकारी हैं कि दलित लोग सरकार के प्रति अपनी हीन-भावना को अपने भीतर ही आत्मसात् कर लेते हैं. सरकारी संरक्षण के लाभग्राही होने के कारण संसाधनों का वितरण भी सामाजिक सपर्क के एक कानून के रूप में सरकार की मध्यस्थता में रूपांतरित हो जाता है. यही कारण है कि सरकार को निर्णायक महत्व प्राप्त हो जाता है. आइए हम एक ऐसी स्थिति की कल्पना करें जहाँ एक दलित को संसाधन अर्जित करने और उन्हें पुनर्वितरित करने के पूरे अधिकार मिल जाएँ. ऐसी स्थिति में उस

दलित शासक की हालत उस बौद्ध तथागत की तरह हो जाएगी, जो अपनी नैतिक मर्यादाओं के लिए विख्यात है और वह अपनी मुक्ति का निर्णय भी तब तक टालता रहेगा जब तक कि आखिरी व्यक्ति भी मुक्त नहीं हो जाता. यह कहना कठिन है कि आज का दलित सरकारी सत्ता मिलने पर भी आखिरी दलित की मुक्ति की प्रतीक्षा करता रहेगा.

*गोपाल गुरु नई दिल्ली, भारत स्थित जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के राजनीतिक सिद्धांत केंद्र में सामाजिक और राजनीतिक सिद्धांत के प्रोफेसर हैं.*